कर्म-सिद्धान्त : एक समीक्षात्मक अध्ययन

—साध्वी श्रुतिदर्शना
एम. ए.

कर्म-सिद्धान्त भारतीय दर्शन का आधार है, नाव है। प्रायः सभी दर्शनों में कर्म को किसी न किसी रूप में माना गया है, भले ही कर्म के स्वरूप निर्णय में मतैक्य न हो, पर अध्यात्मसिद्धि कर्ममुक्ति पर निर्भर है. इसमें मतभिन्नता नहीं है। प्रत्येक दर्शन में किसी न किसी रूप में कर्म की मीमांसा की है, जैन दर्शन में इसका चिन्तन बहुत ही गहराई. विस्तार एवं सूक्ष्मता से किया गया है।

कर्म का स्वरूप—लौकिक भाषा में तो साधारण तौर से जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। जैसे—खाना, पीना, चलना, बोलना इत्यादि। श्रुति और स्मृति में भी यही अर्थ किया गया है। उपनिषद् और वेदान्त सूत्रों के अनुसार कर्म सूक्ष्म शरीर को चिपकते हैं और जिससे जीव को अवश्य जन्म-मरण करने पड़ते हैं। सांख्य दर्शन में सत्व, रजस, तमस गुण पर कर्म निर्भर हैं।

परलोकवादी दार्शनिकों का मत है कि हमारा प्रत्येक कार्य—अच्छा हो या बुरा हो अपना संस्कार छोड़ जाता है। जिसे नैयायिक और वैशेषिक धर्माधर्म कहते हैं। योग उसे आशय और अनुशय के नाम से सम्बोधित करते हैं। उक्त ये भिन्न-भिन्न नाम कर्म के अर्थ को ही स्पष्ट करते हैं तात्पर्य यह है कि जन्म जरा मरण रूप संसार के चक्र में पड़े हुए प्राणी, अज्ञान, अविद्या, मिथ्यात्व से आलिप्त हैं जिसके कारण वे संसार का वास्तविक स्वरूप नहीं समझ सकते, अतः उनका जो भी कार्य होता है वह अज्ञानमूलक है, रागद्वेष का दुराग्रह होता है, इसलिए उनका प्रत्येक कार्य आत्मा के बन्धन का कारण होता है।

सारांश यह है कि उन दार्शनिकों के अनुसार कर्म नाम क्रिया या प्रवृत्ति का है और उस प्रवृत्ति के मूल में रागद्वेष रहते हैं। यद्यपि प्रवृत्ति क्षणिक होती है किन्तु उसका संस्कार फल—काल तक स्थायी रहता है जिसका परिणाम यह होता है कि संस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से संस्कार की परम्परा चलती रहती है और इसी का नाम संसार है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार कर्म का स्वरूप किसी अंश में उक्त मतों से भिन्न है।

जैनदर्शन में कर्म केवल संस्कार मात्र ही नहीं है किन्तु एक वस्तुभूत पदार्थ है, जो जीव की राग-द्वेषात्मक क्रिया से आकर्षित होकर जीव के साथ संश्लिष्ट हो जाता है, उसी तरह घुल-मिल जाता है जैसे दूध में पानी। यद्यपि वह पदार्थ है तो भौतिक, किन्तु उसका कर्म नाम इसलिए रूढ़ हो गया है कि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया के कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकृष्ट होकर वह जीव के साथ बन्ध जाता है। इस प्रकार जैनदर्शन में कर्म को सिर्फ क्रिया— अच्छे बुरे कार्य इतना ही नहीं किन्तु जीव के कर्मों के निमित्त से जो पुद्‌गल परमाणु आकृष्ट होकर उसके साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं, वे पुद्‌गल परमाणु भी कर्म कहलाते हैं।

संसार के सभी प्राणियों में अनेक प्रकार की विषमताएँ और विविधताएँ दिखलाई देती हैं। इसके कारण के रूप में सभो आत्मवादी दर्शनों ने कर्म-सिद्धान्त को माना है। इतना ही नहीं अनात्मवादी बौद्धदर्शन में कर्म-सिद्धान्त को मानने के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा है कि—"सभी जीव अपने कर्मों से ही फल भोग करते हैं सभी जीव अपने कर्मों के आप मालिक हैं, अपने कर्मों के अनुसार ही नाना योनियों में उत्पन्न होते हैं, अपना कर्म ही अपना बन्धु है, अपना कर्म ही अपना आश्रय है, कर्म से ही ऊँचे और नीचे हुए हैं।" (मिलिंद प्रश्न पृष्ठ ८०-८१)

इसी तरह ईश्वरवादी भी प्रायः इसमें एकमत है कि—

"करम प्रधान विश्व करि राखा,
जो जस करहि तो तस फल चाखा॥"

प्राणी जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है—यही कर्मसिद्धान्त का आशय है। अंग्रेजी में कहा है—

"As you sow so you reap."

उपर्युक्त प्रकार से कर्म-सिद्धान्त के बारे में ईश्वरवादियों और अनीश्वरवादियों, आत्मवादियों और अनात्मवादियों में मतैक्य होने पर भी कर्म के स्वरूप और उसके फलदान के सम्बन्ध में मौलिक मतभेद हैं।

अब हम कर्म के फलदान के सम्बन्ध में देखेंगे। प्रायः सभी आस्तिकवादी दार्शनिकों ने कर्म के अस्तित्व को स्वीकार करके उसकी बध्यमान, सत् और उदय ये तीन अवस्थाएँ मानी हैं। इनके नामों में अन्तर भी हो सकता है। लेकिन कर्म के बन्ध, उदय व सत्ता के विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं है। लेकिन विवाद है कर्म के स्वयं जीव द्वारा फल भोगने में या दूसरे के द्वारा भोग कराये जाने में, जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व में, उसके सदात्मक रूप से बने रहने के विषय में।

सांख्य के सिवाय प्रायः सभी वैदिक दर्शन किसी न किसी रूप से आत्मा को ही कर्म का कर्ता और उसके फल का भोक्ता मानते हैं किन्तु सांख्य भोक्ता तो पुरुष को मानता है और कर्ता प्रधान प्रकृति को कहता है। इस प्रकार कुछ तत्वचिन्तकों का मंतव्य है कि जीव कर्म करने में तो स्वतन्त्र है लेकिन उसका फलभोग ईश्वर द्वारा कराया जाता है अर्थात् जीव अपने कर्मों का फल भोगने में परतन्त्र है—इस तरह कर्म फल देने की निर्णायक शक्ति ईश्वर है, उसके निर्णय के अनुसार जीव कर्मफल का भोग करता है।

जैसा कि महाभारत में लिखा है—

"अज्ञोजन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयो।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥"

अर्थात् अज्ञ प्राणी अपने सुख और दुःख का स्वामी नहीं है। ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर वह स्वर्ग अथवा नरक में जाता है।

भगवद्‌गीता में भी लिखा है—'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान हितान्।' मैं अर्थात् ईश्वर जिसका निश्चय कर देता है, वही इच्छित फल मनुष्य को मिलता है।

बौद्ध दर्शन ईश्वर को कर्मभोग कराने में सहायक नहीं मानता किन्तु वह जीव को त्रिकाल स्थायी तत्व न मानकर क्षणिक मानता है।

उक्त दृष्टियाँ एकांगी हैं क्योंकि कृतकृत्य ईश्वर द्वारा सृष्टि में हस्तक्षेप करने से उसकी स्वतन्त्रता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं निष्पक्षता में बाधा पड़ती है। स्वयं जीव के आत्मस्वातन्त्र्य की हानि होती है। यदि जीव को सिर्फ वर्तमान क्षणस्थायी माना जाय तो कर्म-विपाक की उपपत्ति नहीं बन सकती क्योंकि जिस क्षण वाली आत्मा ने कर्म किया है उसी क्षण वाली आत्मा को यह कर्म का फल मिल रहा है यह नहीं हो सकेगा क्योंकि वे क्षणिक मानते हैं। जड़ पदार्थ चेतन के अभाव में फल भोग नहीं कर सकते हैं। यह कार्य तो कृतकर्म भोगी पुनर्जन्मवान स्थायी-तत्व ही करता है। इस प्रकार से त्रिकालस्थायी स्वतन्त्र जीवतत्व का अस्तित्व और उसे अपने ही सुख-दुःख का कर्ता, भोक्ता बताना ही कर्म-सिद्धान्त का प्रयोजन है।

जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टि का नियंता नहीं मानता है, अतः कर्मफल देने में भी उसका हाथ नहीं है। कर्म अपना फल स्वयं देते हैं, उनके लिये अन्य न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं है। जैसे शराब नशा पैदा करती है और दूध ताकत देता है जो मनुष्य शराब पीता है, उसे बेहोशी होती है और जो दूध पीता है, उसके शरीर में पुष्टता आती है। शराब या दूध पीने के बाद यह आवश्यकता नहीं रहती है कि उसका फल देने के लिए दूसरी नियामक शक्ति हो। इसी प्रकार जीव के प्रत्येक कायिक, वाचिक, मानसिक परिस्पन्द से जिन कर्म पुद्गलों का बन्ध होता है, उन कर्म परमाणुओं में भी शराब और दूध की तरह शुभ या अशुभ करने की शक्ति रहती है। जो चैतन्य के सम्बन्ध से व्यक्त होकर उस पर अपना प्रभाव दिखलाती है और उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है जो उसे सुखदायक और दुःखदायक होते हैं। यदि कर्म करते समय जीव के भाव अच्छे होते हैं तो बंधने वाले कर्म परमाणुओं पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और कालान्तर में उससे अच्छा फल मिलता है तथा यदि भाव बुरे हों तो बुरा असर पड़ता है और कालान्तर में फल भी बुरा ही मिलता है।

यदि ईश्वर को फलदाता माना जाये तो जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का घात करता है, वहाँ घातक को दोष का भागी नहीं होना चाहिए, क्योंकि उस मनुष्य के द्वारा ईश्वर मरने वाले को मृत्यु का दण्ड दिलाता है। जैसे राजा जिन पुरुषों के द्वारा अपराधियों को दण्ड दिलाता है, वे पुरुष अपराधी नहीं कहे जाते क्योंकि वे राजा की आज्ञा का पालन करते हैं।

इसी तरह किसी का घात करने वाला घातक भी जिसका घात करता है, उसके पूर्वकृत कर्मों का फल भुगवाता है, क्योंकि ईश्वर ने उसके पूर्वकृत कर्मों की यही सजा नियत की होगी, तभी तो उसका वध किया गया है। यदि कहा जाय कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है अतः घातक का कार्य ईश्वर-प्रेरित नहीं है किन्तु उसकी स्वतन्त्र इच्छा का परिणाम है तो कहना होगा कि संसार दशा में कोई भी प्राणी वस्तुतः स्वतन्त्र नहीं, सभी अपने-अपने कर्मों से बँधे हुए हैं।

कर्मणा बध्यते जन्तु (महाभारत) और कर्म की अनादि परम्परा है। ऐसी स्थिति में 'बुद्धिकर्मानु-सारिणी'—अर्थात् कर्म के अनुसार प्राणी की बुद्धि होती है, के न्यायानुसार किसी भी काम को करने या न करने के लिए मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। इस स्थिति में यह कहा जाय कि कोई भी व्यक्ति मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा क्योंकि जीव कर्म से बँधा हुआ है और कर्म के अनुसार जीव की बुद्धि होती है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कर्म अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं। अतः अच्छे कर्म का अनुसरण करने वाली बुद्धि मनुष्य को सन्मार्ग पर ले जाती है और उससे मुक्ति लाभ हो सकता है, और बुरे कर्म का अनुसरण करने वाली बुद्धि कुमार्ग पर ले जाती है जिससे कर्मबन्ध होता है। ऐसी दशा में बुद्धि के कर्मानुसारिणी होने से मुक्ति लाभ में कोई बाधा नहीं आती है, आत्मा में कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व इन दोनों अवसरों पर स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य फलित होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे कि सहजतया कर्म करने में आत्मा स्वतन्त्र है, वह चाहे जैसे भाग्य का निर्माण कर सकती है, इस प्रकार आत्मा ही स्वयं के भाग्य का निर्माता है न कि ईश्वर के हाथ को कठपुतली। कर्मों पर विजय प्राप्त करके शुद्ध बनकर मुक्त हो सकती है। किन्तु कभी-कभी पूर्वजनित कर्म और बाह्य निमित्त को पाकर ऐसी परतन्त्र बन जाती है कि वह जैसा चाहे वैसा कभी भी नहीं कर सकती है, जैसे कोई आत्मा सन्मार्ग पर बढ़ना चाहती है,किन्तु कर्मोदय की बलवत्ता से उस मार्ग पर चल नहीं पाती हैं, फिसल जाती है, यह है आत्मा का कर्तृत्व काल में स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य।

कर्म करने के बाद आत्मा पराधीन—कर्माधीन ही बन जाती है, ऐसा नहीं। उस स्थिति में भी आत्मा का स्वातन्त्र्य सुरक्षित है। वह चाहे तो अशुभ को शुभ में परिवर्तित कर सकती है, स्थिति और रस का ह्रास कर सकती है। विपाक (फलोदय) का अनुदय कर सकती है, फलोदय को अन्य रूप में परिवर्तित कर सकती है। इसमें आत्मा का स्वातन्त्र्य मुखर है। परतन्त्रता इस दृष्टि से है कि जिन कर्मों को ग्रहण किया है, उन्हें बिना भोगे मुक्ति नहीं होती। भले ही सुदीर्घ काल तक भोगे जाने वाले कर्म थोड़े समय के लिए भोगे जाय किंतु सबको भोगना ही पड़ता है।

जैनदर्शन की कर्म के बन्ध, उदय की तरह कर्म क्षय की प्रक्रिया भी सयुक्तिक है। स्थिति के परिपाक होने पर कर्म उदयकाल में अपना वेदन कराने के बाद झड़ जाते हैं। यह तो कर्मों का सहज क्षय है। इसमें कर्मों की परम्परा का प्रवाह नष्ट नहीं होता है। पूर्व कर्म नष्ट हो जाते हैं लेकिन साथ ही नवीन कर्मों का बन्ध चालू रहता है। इस श्रृंखला को तोड़ने के लिए तप, त्याग, संयम आदि प्रयत्नों की आवश्यकता है। संयम, संवर से नये आते कर्मबन्ध बन्द होगा, तप द्वारा जो कर्म रहे हैं, उनका क्षय होगा। इस प्रकार पुरुषार्थ से आत्मा कर्म के बन्धनों से मुक्त हो सकती है। कर्म तत्व के सम्बन्ध में जैन दर्शन की विशेषताएँ हैं कि कर्म के साथ आत्मा का बन्ध कैसे है ? किन कारणों से होता है ? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति उत्पन्न होती है, आत्मा के साथ कितने समय तक कर्म लगे रहते हैं, कब फल देते हैं ? इसका विस्तार यहाँ नहीं करते हुए विराम लेती हूँ, क्योंकि लेख की मर्यादा है। कर्म सिद्धान्त सागर-सा विशाल है उसे गागर में भरना बहुत ही कठिन है। इस प्रकार जैन दर्शन में वैज्ञानिक रूप से कर्म सिद्धान्त का निरूपण किया गया है।

—卐—

जगत में ऐसा कोई बलवान नहीं है जो उगते हुए सूर्य को रोक सकता हो, वैसे ही लोक में ऐसा कोई नहीं जो उदय में आये हुए कर्म को रोक सकता हो।

—भग० आ० १७४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org